मानस की समसामयिक टीका प्रेमरामायण

[रामचरितमानस और बिहारी-सतसई हिंदी की विश्रुत लोकप्रिय काव्य-कृतियाँ हैं। मानस भक्ति का प्रबंध है और सतसई शृंगार की मुक्तक मुक्ताएँ। अपने-अपने विषय की ये अद्वितीय कृतियाँ अपने प्रणयनकाल से ही सभी भाषा-भाषियों के आकर्षण का केंद्र रही हैं। हिंदी भाषा से अविज्ञ जन इनके रसास्वादन के लिए तो तरसते ही थे, संस्कृत के विद्वान् भी उसके लिए लालायित रहते थे। धार्मिक ग्रंथों की भाषा होने के कारण संस्कृत ही एकमात्र ऐसी भाषा थी, जिसका अध्ययन-अध्यापन देशव्यापी था। भाषा-माध्यम का जो स्थान भारत में आज अंग्रेजी को प्राप्त है, वही संस्कृत को सुदीर्घकाल से ही स्वतः प्राप्त है। अतः इन दोनो कृतियों को संस्कृत में रूपांतरित करने की अपेक्षा हुई। शृंगार सप्तशती तो बहुत पीछे रची गई, किंतु प्रेमरामायण की रचना मानस-प्रणेता के जीवनकाल में ही उनके अंतेवासी श्रीरामू द्विवेद द्वारा की गई।

प्रेमरामायण न तो विशुद्ध रूप से संपूर्ण मानस की टीका या व्याख्या ही है और न अनुवाद ही। मानस के प्रत्येक चरण की टीका या व्याख्या के खोजियों को उसे पढ़कर निराश ही होना पड़ेगा। वर्णन प्रसंगों के विस्तार में इसके प्रणेता की वृत्ति अधिक रही है। यह स्थिति किष्किंधा और सुंदर कांडों में ही है, अयोध्या में नहीं। 'टीका नीका मया कृता' का उल्लेख अयोध्याकांड के उपोद्घात में आया है और उसके संबंध में यह उक्ति पूर्णरूपेण चरितार्थ है। आगे के किष्किंधा तथा सुंदर कांड मात्र उपलब्ध हैं। वस्तुतः यह परम रामभक्त भरत और हनुमान् के मानस में चर्चित चरित्र-विषयक विशिष्ट और प्रमुख अंशों का सुंदर संस्कृत भावानुवाद है। भगवद् प्रेम और भक्ति के स्वरूप का चरम उत्कर्ष इन महान् द्वय के चरित्रों में स्पष्ट रूप से दृग्गोचर होता है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि राम-भक्ति और राम-भक्त के स्वरूप तथा तुलसी की प्रेमाभक्ति का उद्घाटन मात्र प्रेमरामायणकार को अभिप्रेत था।

'प्रेमरामायण' नामकरण में उसके रचयिता के प्रयोजन का तथा अनुसंधान की विभिन्न दृष्टियों से पाठांतर आदि का सविस्तर विमर्श प्रस्तुत निबंध में किया गया है। इसमें आए उद्धरणों का पाठ हस्तलेखों का ही है, संपादित नहीं। मानस के अनुसंधित्सुओं के लिए इसकी उपादेयता निर्विवाद है।]

श्री रामचरितमानस 'सत्यं शिवं सुंदरं' की अनुभूति का प्रतीक है। उद्धृत उक्ति के मूलस्रोत के परिज्ञान हेतु विदेशों तक का प्रक्रमण अनपेक्षित प्रतीत होता है। उसके लिए मानस का मंथन ही पर्याप्त है। मंथन के पश्चात् प्राप्त होनेवाले अमृत के गुण-बोध के लिए उसके सप्तम सोपान की फलश्रुति द्रष्टव्य है—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभं।

इस श्लोक में प्रयुक्त प्रथम शब्द है 'पुण्यं'। अमरकोश में इस शब्द के पाँच पर्यायवाची माने गए हैं—धर्म, पुण्य, श्रेयस्, सुकृत और वृष।[1] पुण्य ही धर्म है और दशविध धर्म में सत्य को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है। इस प्रकार 'पुण्यं' शब्द 'सत्यं' का ही द्योतक है। 'शिवं' स्पष्ट है 'शिवकरं' में। अब रही बात 'सुंदरं' की। फलश्रुति में जो 'सुविमलं' है, वही 'सुंदरं' है। 'वाचस्पत्यम्' संस्कृत वाङ्मय का प्रमुख अभिधान है। उसके षष्ठ भाग में 'विमल' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—'विगतो मलो यस्मात्' अर्थात् 'स्वच्छे, निर्मले, चारुणि'।[2] यहाँ प्रयुक्त 'चारु' शब्द ही 'सुंदर' का द्योतक है। बृहत् हिंदी कोश में भी 'विमल' शब्द के अर्थ 'साफ, वेदाग, विशुद्ध, निर्दोष, स्पष्ट, पारदर्शक, श्वेत, और सुंदर' दिए गए हैं।[3] निष्कर्ष यह कि 'पुण्यं, शिवकरं, सुविमलं' शब्द स्पष्ट रूप से 'सत्यं शिवं सुंदरं' के ही समानार्थक हैं। अर्थ सामंजस्य के लिए दूसरी दृष्टि से भी विचार करना आवश्यक है। इससे पूर्व विमर्श की पुष्टि हो जायगी। 'राम' शब्द का धातुगत अर्थ है—'रमन्ते योगिनो अस्मिन्निति रामः'[4]। योगीगण इसी दशरथात्मज राम का ध्यान करते हैं। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में 'राम' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस प्रकार किया गया गया है—

रा शब्दो विश्ववचनो मश्चापीश्वरवाचकः।
विश्वानामीश्वरो यो हि तेन रामः प्रकीर्तितः॥[5]

यहाँ 'राम' शब्द को विश्व ईश्वरत्व प्राप्त है। योग शास्त्र के अनुसार योगियों का सत्यान्वेषण में ही प्रस्तुत रहना कहा गया है।[6] अतः यहाँ राम पद सत्य का

१—प्रथमं कांडं 'काल' वर्ग, श्लो० २४। २—पृष्ठ संख्या ४९१६।
३—प्रकाशक—ज्ञानमंडल लि०, पृ० सं० १२५०।
४—रमु क्रीडायाम् (भ्वादि), धातु सं० ८७८, सूत्र सं० ३१५२, सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनी, पृ० सं० ४४२।
५—श्रीराधाकृष्ण मोर प्रकाशित 'ब्रह्मवैवर्त्तपुराण', श्रीकृष्ण जन्म खंड के अंतर्गत 'रामादि शब्दानां व्युत्पत्तिः' शीर्षक, अ० १११, श्लो० १८, पृ० १४०३।
६—'ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा', समाधिपाद, सू० ४८; 'ऋतं सत्यं बिभर्त्ति धारयति इति ऋतम्भरा', पातञ्जल योगदर्शन, पृ० १००, भारतधर्म महामण्डल द्वारा प्रकाशित।

बोधक ही नहीं प्रबोधक भी है। उस सत्यात्मक श्रीराम का जो आदर्श चरित्र है वह शिव है अर्थात् कल्याणकारक है। अतएव गो० तुलसीदासजी ने मानस में यह स्थिर किया कि

श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहंति ये।
ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यंति नो मानवाः॥[1]

अर्थात् जो इस श्रीमद्रामचरित्र रूपी सरोवर में भक्तिपूर्वक अवगाहन करते हैं, वे इस संसाररूपी सूर्य की प्रखर किरणों से कदापि नहीं जलते। यह तो हुआ निर्मल रामचरित्र का माहात्म्य। अब 'मानस' पर आइए। चित्त, चेतस्, हृदय, स्वांत, हृत् और मन ये 'मानस' के पर्यायवाची हैं।[2] अर्थात् मानस का तात्पर्य हृदय से है तथा प्रस्तुत प्रसंग में इसका समन्वय 'सुंदरं' शब्द से है। अतएव यह सुहृद् होकर 'धर्मः सखा परमहो परलोकयाने' सिद्ध करता है। मानसकार ने इसको यों स्पष्ट किया है—

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥
तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हिअँ हेरि हरषि हर॥[3]

इस प्रकार 'सत्यं शिवं सुंदरं' मानस पर सम्यक् प्रकारेण चरितार्थ होता है।

गोस्वामी तुलसीदासजी से संबंधित एकमात्र प्रामाणिक एवम् सर्वसम्मत संवत् है १६३१, जो मानस में स्वयम् उनके द्वारा उल्लिखित है।[4] यह है मानस-रचना के श्रीगणेश का समय। रामचरितमानस की अनेक पांडुलिपियाँ बड़इया (पटना) में मिलती हैं। उनकी पुष्पिकाओं में संवत् १६४१ की प्रति की परंपरा की प्रति होने का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि संवत् १६४१ तक मानस की रचना पूर्ण हो गई थी। वह काव्य साहित्य की समृद्धि का काल था।[5] इस समय संस्कृत भाषा में रचना करना ही पांडित्य की कसौटी मानी जाती थी। संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी तुलसीदास ने 'भाषा' में ही श्रीरामचरितमानस का प्रणयन किया।[6] यदि मानस की रचना सरल सुबोध भाषा में न होती तो श्रीरामचरितामृत सर्वसुलभ न हो पाता। कहा जाता है कि उस समय श्रीघनश्याम शुक्ल संस्कृत के अच्छे कवि थे। पर उन्हें भाषा में ही कविता करना अधिक रुचता था। उन्होंने धर्मशास्त्र के कुछ ग्रंथ भाषा में ही बनाए। इस पर एक पंडितजी ने उनसे कहा कि 'यह विषय संस्कृत में न लिखने से ईश्वर अप्रसन्न होते हैं, अभी

१—मानस, ७। पुष्पिका श्लो० २। २—अमरकोश, काल वर्ग, श्लो० ३१।
३—मानस, १।३५।११-१२। ४—वही, १।३४।४।
५—श्रीवाचस्पति गैरोला कृत 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास,' पृ० ८६७।
६—मानस, १। मं० श्लो० ७।

से आप संस्कृत में लिखा करिए।"[1] उन्होंने इस संबंध में गोस्वामीजी से परामर्श किया। गोस्वामीजी ने कहा—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
काम जु आवै कामरी का लै करै कुमाच॥[2]

इससे यह पता चलता है कि कवियों की रुचि जनभाषा में रचना करने की ओर अग्रसर हो रही थी। विद्वद् समाज भाषा के महत्त्व को समझने लगा था। यदि तुलसीदासजी ने संस्कृत में ही पूर्ण रचना की होती तो संभवतः प्रेमरामायण जैसी स्थिति उसकी भी होती। वह न तो जन जन का कंठहार हो पाती और न उसे श्रीमद्भगवद्गीता के समान लोकप्रियता ही प्राप्त होती। रामचरितमानस के प्रति जो आग्रह संस्कृत के विद्वानों का था, वह अंततोगत्वा चरितार्थ हुआ। गोस्वामीजी के प्रत्यक्ष शिष्य श्रीरामू द्विवेद ने वैक्रम संवत् १६६२ के पूर्व मानस की पद्यमयी टीका संस्कृत में प्रस्तुत की।[3] टीकाकार ने अपने शिष्यत्व का परिचय यों दिया है—

वंदेहं तुलसीदासं निवासं जानकीपतेः।
यत्प्रसादेन रामूको मूकोपि कवितां गतः॥[4]

टीका के संबंध में ग्रंथारंभ करते हुए श्रीद्विवेद ने स्वयम् कहा है—

भाषारामायणस्यैषा टीका नीका मया कृता।
नीरसस्य परं फीका यो ही का कुटिलः सदा॥[5]

संभवतः रामचरितमानस को रामायण की अभिधा सर्वप्रथम इन्होंने ही दी है। संस्कृत में टीका करने का इनका प्रयोजन यह था कि भाषा में जिन संस्कृत विद्वानों की पैठ नहीं है, वे भी मानस-मर्म को भली भाँति समझ सकें। इसकी पुष्टि के लिए प्रेमरामायण के सुंदरकांड, तृतीय सर्ग की पुष्पिका द्रष्टव्य है—

भाषावबोधविधुरां विदुषां तोषकारिणी॥१६॥
श्रीरामकिंकरकृते रघुवीरकाव्ये रामूर्बबंध तनुपद्यमयीं नवीनां।
टीकां हिताय विदुषामिह सुंदरेऽपि कांडे तृतीय इति सर्गविधिर्व्यरंसीत्॥

१—डा० श्यामसुंदरदास संपादित 'रामचरितमानस', सन् १९०३ का संस्करण, भूमिका, पृ० ३६।
२—दोहावली, 'तुलसी-ग्रंथावली' (दूसरा खंड), दो० ५७२, ना० प्र० सभा का चतुर्थ संस्करण।
३—दे० आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र द्वारा संपादित 'रामचरितमानस', काशिराज-संस्करण की भूमिका, पृ० १२।
४—वही, पृ० १३। ५—वही, पृ० १२।

इससे स्पष्ट है कि श्रीरामू द्विवेद ने इस संस्कृत टीका का नाम 'बुध-बोधिनो' रखा है। 'प्रेमरामायण' नाम भी साभिप्राय है। इसके नामकरण में प्राचीन रामायण एवम् मानस की पद्धति का सुंदरतापूर्वक निर्वाह किया गया है। संस्कृत तथा इतर भाषाओं में रचित रामचरित्र विषयक ग्रंथ प्रायः 'रामायण' नाम से अभिहित हैं। अतः द्विवेदजी ने भी रामायणपरक नामकरण किया है। उसके साथ 'प्रेम' शब्द संयुक्त करने का भी कारण है। इसके लिए मानस के द्वितीय सोपान की फलश्रुति अति महत्त्वपूर्ण है—

सिय राम पेम पिऊष पूरन होत जनमु न भरत को।[1]
भरतचरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भवरस बिरति॥[2]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन एवम् तत्कालीन विषयों में सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से 'प्रेमरामायण' नामकरण किया गया। इसकी पुष्टि में टीकाकार ने अपनी लघुभूमिका में स्वयम् कह दिया है—

तत्रायोध्याभिधे कांडे प्रेमभांडे विपश्चितां।
समश्लोकनिबद्धानां सग्गांना[णा]मेकविंशतिः॥[3]

श्रीद्विवेदजी ने अयोध्याकांड को विपश्चितां (विद्वानों का) प्रेमभांड कहा है। अतः 'प्रेमरामायण' संज्ञा साभिप्राय है।

इस महत्त्वपूर्ण मानस की प्राचीनतम टीका की तीन ही प्रतियों का पता ज्ञात है।[4] प्रथम प्रति तत्रभवान् काशिराज महाराज डा० विभूतिनारायणसिंहजी महोदय के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है। इसमें तीन कांड मात्र हैं—अयोध्या, किष्किंधा तथा सुंदर। अयोध्याकांड २१ सर्गों में पूर्ण हुआ है तथा किष्किंधा और सुंदर में

१—मानस, २।३२५।९। २—वही, २।३२५।१३-१४। ३—प्रेम०, भूमिका श्लो० १८।

४—शोध जगत् को प्रेमरामायण की सूचना सर्वप्रथम श्रद्धेय आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र ने दी। तत्संबंधी उनका प्रथम लेख 'तुलसीदास का समसामयिक सेवक रामू' शीर्षक से अप्रैल, १९५४ में दैनिक हिंदी पत्र 'आज' में प्रकाशित हुआ था। उसका परिष्कृत रूप कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण उद्धरणों के साथ उनके स्वसंपादित 'रामचरितमानस' के काशिराज संस्करण की भूमिका में पृष्ठ १२-१४ पर मिलता है। इधर श्री एफ० आर० आलचिन् द्वारा अंग्रेजी में अनूदित 'कवितावली', जार्ज एलेन ऐंड अनविन लिमि०, रस्किन हाउस, म्यूजियम स्ट्रीट, लंडन से प्रकाशित हुई है। उस ग्रंथ का पूरा नाम है 'तुलसीदास कवितावली ट्रांसलेटेड ऐंड विथ ए क्रिटिकल इंट्रोडक्शन'। उसमें 'दी लाइफ ऑव् तुलसीदास' शीर्षक के अंतर्गत पृ० ४१ पर आचार्य मिश्रजी दोनो लेखों का उपयोग किया गया है तथा उनसे उद्धरण उद्धृत किए गए हैं।

छः छः सर्ग हैं। अयोध्याकांड में दो सहस्र से अधिक विभिन्न प्रकार के छंद हैं। टीकाकार ने पद्यों की संख्या के विषय में लिखा है—

द्वे सहस्रे तु वृत्तानां पद्यानां द्वे शते तथा।
अष्टाशीतिश्च शिष्टानां प्रिये कांडे कृतानि तु॥[1]

इसके अनुसार प्रिय (प्रेम) कांड, अर्थात् अयोध्याकांड में २२८८ पद्य हैं। इस कांड के प्रथम सर्ग में २० श्लोकों तक वंदना-प्रकरण है, जिसमें प्रायः सभी देवी-देवताओं की एवम् गुरुदेव तुलसीदासजी की वंदना की गई है।

तत्रभवान् काशिराज की प्रति के लिपिकाल के संबंध में सुंदरकांड की पुष्पिका ही निर्णायक है, क्योंकि अन्य दोनो कांड अयोध्या और किष्किंधा में उसका उल्लेख नहीं है। सुंदरकांड की पुष्पिका इस प्रकार है—

पुनर्वसुत्रिमस्तकाक्षिषट्सुधांशु १६६२ संमिते सुवत्सरेथ कार्त्तिके सितेर्कसंमिते तिथौ।
दले लिलेख सुंदरं तुलाभिधो महेशितुः पुरे हि कांडकं नवं रवेर्दिने द्विजःस्वयम्॥[2]

इससे स्पष्ट है कि 'पुनर्वसु = २, त्रिमस्तकाक्षि=६, षट्=६, सुधांशु=१; ('अंकानां वामतो गतिः' से) १६६२ कार्तिक मास के सित (उज्ज्वल=शुक्ल) दल (पक्ष) में अर्क (सूर्य=१२) तिथि (द्वादशी) को तुला नाम के द्विज ने महेश के पुर (काशी) में यह नया कांड (सुंदरकांड) रविवार को स्वयम् लिखा। जब अनुलिपिकाल १६६२ है तब ग्रंथ इसके पूर्व अवश्य बन गया होगा।'[2] यहाँ 'स्वयम् शब्द सापेक्ष होने के कारण विचारणीय है। प्रेमरामायण के अयोध्याकांड की पुष्पिका में टीकाकार का पूर्ण परिचय दिया है, साथ ही 'तुलारामनाम्नो हिताय' भी उल्लिखित है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अयोध्या और किष्किंधा कांडों की अनुलिपि किसी अन्य लिखक के द्वारा की गई, किंतु सुंदरकांड को स्वयम् तुलाराम ने लिखा। इसकी पुष्टि अयोध्याकांड के अंत में लिखित 'लिखितं दलपती कायस्थेन' से भी होती है। यहाँ एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि 'तुला' या 'तुलाराम' नामक द्विज कौन थे और कब हुए? रघुवरदास लिखित वृहत्काय ग्रंथ 'तुलसीचरित' में तुलाराम नाम आया है, किंतु इस ग्रंथ की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है।[3] एक तुलाराम तुलसी मंदिर के महंत के रूप में विख्यात हैं। इनका समय संवत् १८३२ वै० माना गया है।[4] इनके समय और ग्रंथ के अनुलिपिकाल में १७० वर्षों का

१—प्रेमरामायण, अयोध्या०, प्रा० श्लो० १९।
२—रामचरितमानस (काशिराज संस्करण), भूमिका, पृ० १३।
३—डा० माताप्रसाद गुप्त लिखित 'तुलसीदास', पृ० ६२ तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी कृत 'तुलसीदास और उनका काव्य', पृ० ५८।
४—डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास' शीर्षक शोधप्रबंध, पृ० १९२।

अंतर है। अतः ये निश्चित रूप से परवर्ती हैं। अतः प्रेमरामायण में उल्लिखित तुलाराम इन दोनो से भिन्न व्यक्ति हैं।

प्रेमरामायण की यदि एकमात्र प्रति काशिराज के यहाँ ही मिलती तो संदेह का अवसर आता। अन्य विशिष्ट ग्रंथागारों में भी इसके हस्तलेख सुरक्षित हैं। इसकी अयोध्याकांड की एक प्रति रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता में है।[1] यद्यपि इस प्रति में लिपिकाल का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि सुप्रसिद्ध विद्वान् अन्वेषक श्रीहरप्रसाद शास्त्री ने उसे ईसाई सत्रहवीं शती को मान्यता दी है। यह प्रति खंडित है। मानस के २।४६।० से २।५२।० तक तथा २।९८।० से अंत तक के अंश ही उसमें उपलब्ध हैं। इस हस्तलेख के उपरि पृष्ठ पर १०३७१ रोमन अंक में अंकित है तथा अंग्रेजी की एक मोहर भी लगी है, जो स्पष्ट पढ़ी नहीं जाती। तीसरी प्रति दी ब्रिटिश म्यूजियम लंदन के पुस्तकालय में है। इस प्रति के संबंध में बिना देखे कुछ कहा नहीं जा सकता। काशिराज एवम् सोसायटीवाली प्रतियों में अनेकत्र पाठांतर हैं, पर्यायवाची शब्दों का हेरफेर अधिक है। दोनो की पुष्पिकाओं में पर्याप्त अंतर है। उदाहरण स्वरूप एक स्थल उद्धृत है—

शुद्धेंदुस्वच्छकीर्तिर्दशरथतनयस्यावबंधप्रबंधं काश्यां-
दासस्तुलस्या विवृतिमपि तुलारामनाम्नो हिताय।
चक्रे रामूद्विवेदस्तनुमतिरतनुश्लोकबद्धामुपांतेयोध्या-
कांडे व्यरंसीद्भरतसुचरितेत्रैकविंशोपि सर्गः॥

—काशिराज की प्रति, अयोध्या० की पुष्पिका।

इति श्रीप्रेमरामायणे अयोध्याकांडे भरताचरणचर्या नामैकविंशति सर्गः।
वातजातकृतप्रेमरामायणविकाशनं भाषया तुलसीदासैरकारि खलु सूरभिः।
तस्येयं रचिता टीका श्लोकबद्धा यथामति काश्यां रामू द्विवेदेन सरलोऽ-
तरलात्मनाम्॥

—रायल एशियाटिक सोसायटी की प्रति, अयोध्या० की पुष्पिका।

जब मानस की एक ही टीका की विभिन्न प्रतियों में इतना पाठांतर है, तो मूल मानस में पाठांतर हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

टीकाकार रामू द्विवेद ने मानस के कथा भाग का तो शब्दानुवाद या भावानुवाद किया है, परंतु जहाँ वर्णन-प्रसंग आए हैं वहाँ विस्तार है।[2]

१—ए डिस्क्रिप्टिभ कैटलाग ऑव् दी संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी कलेक्शन्स ऑव् दी एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम ७, 'काव्य' शीर्षक, ग्रंथ संख्या ५२५४।

२—आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र कृत 'हिंदी साहित्य का अतीत' (प्रथम खंड), पृ० २३५।

श्रीरामचरितमानस और उसकी प्राचीनतम टीका प्रेमरामायण के समन्वय के पूर्व श्रीरामू द्विवेद की शब्दमुक्ता की ओर भी ध्यान आकृष्ट कर देना अनुचित न होगा। उस पाठ से विनयपत्रिका के इस पद को मिलाइए—

जयति बालार्क कपि केलि कौतुक उदित चंडकर मंडल ग्रासकर्त्ता।
राहु रवि-सक्र पबि गर्ब खर्वीकरन, सरन भयहरन, जय भुवन भर्त्ता॥
—विनय०, २५, संत श्रीकांतशरणजी संपादित, भाग १।

बालार्कग्रासकारी सकलसुरपतेर्म्मानहारी जगत्या-
माबाल ब्रह्मचारी पयसि जलनिधेर्यानवच्छैलतारी।
रक्षो वक्षोविदारी वसनदहनकृद्वैरिनारी जनानां
रामांघ्रिध्यानधारी स जयति हनूमान् भीतिहारी गतिर्म्मे॥
—प्रेम०, अयोध्या, प्रा० श्लो० ७।

इस समन्वय से स्पष्ट है कि विनयत्रिका की ओर भी टीकाकार का आकर्षण था।

पूर्व में यह सूचित किया जा चुका है कि प्रेमरामायण में सर्गबद्ध रचना है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र का यह अभिमत है कि इसके एक एक सर्ग मानस के एक एक प्रसंग के सूचक हैं। उन्होंने मानस के उत्तरकांड (सप्तम सोपान) में चर्चित 'तेरिज रामायण' में आए प्रसंगों से इसके सर्गों को मिला देखने के लिए कहा है।[1] उन्हीं के निर्देशानुसार दोनो का संतुलन यहाँ उपस्थित है—

प्रेमरामायण अयोध्याकांड	तेरिज रामायण उत्तरकांड
श्रीराम यौवराज्यारंभो नाम प्रथम सर्गः	बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा[2]
कैकेयी मंथरावाक्यं नाम द्वितीयः सर्गः	पुनि नृप बचन राजरस भंगा[3]
कैकेयी वरप्रार्थनं नाम तृतीयः सर्गः	
कौशल्या रामवचनं नाम चतुर्थः सर्गः	पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा
सौमित्रिरामसंभाषणं नाम पंचमः सर्गः	कहेसि राम लछिमन संबादा[4]
श्रीरामवनगमनं नाम षष्ठः सर्गः	बिपिनगवनु केवट अनुरागा[5]
शृङ्गवेरपुर रामनिवासवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः	सुरसरि उतरि निवास प्रयागा[6]
सबंधुदारपथिक श्रीरामसंवर्णनं नाम अष्टमः सर्गः	बालमीकि प्रभु मिलब बखाना[7]
रघुनाथकाननिर्गम चित्रकूट समागम नाम नवमः सर्गः	चित्रकूट जिमि बसे भगवाना[8]

दशम सर्ग से पंचदश सर्ग तक सर्गों के नामकरण नहीं किए गए हैं। षोडश और सप्तदश सर्गों की पुष्पिका में नाम का संकेत क्रमशः यों है—'चित्रकूटाचले

१—मानस (काशिराज संस्करण) की भूमिका, पृ० १४। २, ३—वही, ७।६५।१। ४—वही, ७।६५।२। ५, ६—वही, ७।६५।३। ७, ८—वही, ७।६५।४।

बंधुसम्मेलनम्' तथा 'चित्रकूट रामबंधुसंभाषणं' है। ये दोनो 'भरतु गए जहँ प्रभु सुखरासी'[1] एवम् 'पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाए'[2] की ओर संकेत करते हैं। इस तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'सर्गबन्धो महाकाव्यम्' तथा 'नाति-स्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह'[3] की ओर कवि का संकेत है। इससे 'मानस' को महाकाव्य पद्धति का ग्रंथ न मानने का भ्रम दूर हो जायगा।

गोस्वामीजी के जीवनकाल की इस महत्त्वपूर्ण प्राचीनतम टीका का उपयोग केवल रामचरितमानस के काशिराज संस्करण में हुआ है। यह टीका ग्रंथकार के मनोगत भावों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट करनेवाली है। टीकाकार के अंतस्तल में यह भावना रही है कि मानस के अंतर्गत कथाशिल्पों को उद्घाटित किया जाय। खेद है कि बालकांड की टीका उपलब्ध नहीं है, अन्यथा उस कांड में आए 'प्रतापभानु' जैसी कथाओं की ओर भी टीकाकार अवश्य संकेत करते। अस्तु जो सामग्री उपलब्ध है, उसी के आधार पर मानस के मुख्य स्थलों का या यों कहिए स्थालीपुलाकन्याय से क्रमशः मिलान किया जाता है। मानस के अयोध्या, किष्किधा, और सुंदर कांडों के प्रारंभ में आए मंगलाचरण के संस्कृत श्लोकों का अर्थ करना अनावश्यक जान टीकाकार ने भाषाबद्ध अंश की ही टीका की है—

श्रीगुरचरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल जसु जो दायकु फल चारि॥[4]
विमार्ज्य गुरुपत्कंज रजोभिश्चित्तदर्पणं।
वर्ण्यते रामचरितं चतुर्व्वर्गप्रदं हि यत्॥—प्रेम०, अयो०, सर्ग १, श्लो०२०।

उपर्युक्त दोहे में 'फलचारि' जो है, वह 'चतुर्वर्ग फलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि'[5] का आशय है। टीकाकार की भावस्पष्टता का उदाहरण आगे देखिए—

जब तें रामु ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए॥
भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥
रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहुँ आई॥
मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती॥
कहि न जाइ कछु नगरबिभूती। जनु एतनिय बिरंचिकरतूती॥
सब बिधि सब पुरलोग सुखारी। रामचंद मुख चंदु निहारी॥[6]

उपर्युक्त चौपाइयों को संस्कृत टीका से मिलाइए—

विवाहानंतरं रामो यदायोध्यामुपागतः।
तत्राययुर्मुदो नित्यं मंगलं सर्वसंपदः॥

१—वही, ७।६५।६। २—वही, ७।६५।७।
३—साहित्यदर्पण, रि० ६, श्लो० ३१५, ३२४। ४—मा०, २। मं० दो० ४।
५—साहित्यदर्पण, प्र० प० श्लो० २। ६—मानस, २।१।१-६।

चतुर्दशसु लोकेषु पर्व्वतेष्विव[1] सर्वतः।
ववृषुः पुण्यजलदाः सुखवारि प्रतिक्षणं॥
ऋद्धि सिद्धयादयो नद्यः सद्योयोध्यां महोदधिं।
अभितो मिलिता.....॥
अनर्घ्यहेममाणिक्यसुंदरै मंदिरैर्न्नरैः।
रराज चारुनारीभिः सा पुरी स्वः पुरी यथा॥
वक्तुं न शक्यते शोभा साकेतस्य सुरैरपि।
मेनिरे तै.....॥
यत्र पौराः वसंतिस्म सर्व्वदैव सुखान्विताः।
रघुवीरमुखांभोज कांतिपीयूषलंपटाः॥
चकोरा इव राजानं तमाजानुभुजं पथि।
पश्यंतिस्म मुदा पौराः सुंदरं सुखदायकं॥

मानस से टीका का मिलान विशेषतः इन स्थलों पर कीजिए—घर आए= अयोध्यामुपागतः, मोद बधाए = मंगलं सर्वसंपदः, भुवन चारि दस = चतुर्द्दशसु लोकेषु, बरषहिं = ववृषुः, उमगि = अभितो मिलिता, नगर विभूती = साकेतस्य शोभा। मानस की इस प्राचीन टीका से मानस के अनेक विवादास्पद पाठों पर भी प्रभाव पड़ता है। शुद्ध पाठान्वेषी विद्वानों के लिए एक दो उदाहरण दे देना आवश्यक है—

मुदित मातु सब सखी सहेलीं। फलित बिलोकि मनोरथ बेलीं।[2]

उक्त चौपाई में 'मनोरथ' पाठ का टीकाकार ने भी समर्थन किया है—

ससख्यो मुमुदू राममातरो बांधवास्तथा।
फलितां ललितां वीक्ष्य मनोरथलतां ततां॥[3]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि काशिराज की सं० १७०४ की मानस की प्रति में 'मनोहर' पाठ है, फिर भी अन्य प्राचीन हस्तलेखों के साक्ष्य एवम् इस टीका की पुष्टि से काशिराज संस्करण में 'मनोरथ' पाठ ही निर्धारित है।

आगे एक दूसरे प्रसंग का श्रीरामू द्विवेद कृत विवृति का रसास्वादन करिए—

झूठेहुँ हमहि दोसु जनि देहू। दुइ कै चारि मागि मकु लेहू॥
रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥
नहि असत्य सम पातकपुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए॥[4]

प्रस्तुत चौपाइयों के अर्थ में टीकाकार की सटीकता देखिए—

दोषारोपो मयि कथं क्रियते व्यर्थमेव हि।
प्रार्थय द्विगुणं चाद्य किं मया नैव दीयते॥

१—'पर्वतेष्वपि' पाठ उचित जँचता है। २—मानस, २।१।७।
३—प्रेम० अयो० सर्ग १, श्लो० २८। ४—मानस, २।२८।३-६।

केन्द्रीय साहित्यिक शोध संस्थान
14452
दास छावनी सेवा

अस्माकं हंसवंश्यानां व्रतं विदितमेव हि।
यांतु प्राणा न वै वाचो नासत्यात्पातकं परं ॥ १८ ॥
गुंजा कोटिर्भवेत् किंवा शैलराज समा क्वचित्।
सत्यमेव हि धर्माणां मूलं वेदैरुदीरितं ॥ १९ ॥[1]

यहाँ झूठेहुँ हमहि दोष जनि देहु = दोषारोपो मयि कथं क्रियते व्यर्थमेव हि, दुइ कै चारि = प्रार्थय द्विगुणं, रघुकुल रीति = अस्माकं हंसवंश्यानां आदि मुख्य मुख्य स्थलों पर टीकाकार ने शब्दों के मर्म तक को उपस्थित कर दिया है।

मानस के अयोध्याकांड के तापस-प्रसंग के विषय में अब तक विद्वानों में ऐकमत्य नहीं हो सका है। कुछ लोग इस प्रसंग को क्षेपक मानते हैं और कुछ लोग जिनका प्राचीन हस्तलेखों में पूर्ण विश्वास है, कविकृत ही मानते हैं। मानस-मनीषी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार 'तापस' शब्द का अग्निदेव, हनुमान्, वाल्मीकि, चित्रकूट, अगस्त्यजी या तुलसीदासजी का अर्थ लगाते हैं।[2] श्री रेवरेन्ड फादर कामिल बुल्के साहब ने अपने महत्त्वपूर्ण निबंध में धर्मखंड (अध्याय ९८) के अनुसार तापस को ब्राह्मण वेषधारी 'शिव' कहा है।[3] इस विषय में गोस्वामीजी के प्रत्यक्ष शिष्य श्रीरामू द्विवेदजी मौन नहीं हैं। उनका जो कहना है, उसे उद्धृत कर रहा हूँ। मानस-मर्मज्ञ इस मर्म को समझें और तथ्य को स्पष्ट करें।

तेहि अवसर एकु तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा।
कबि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी ॥
सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि ॥[4]

प्रेमरामायण से मिलाइए—

तस्मिन्नवसरे कश्चित्तापसस्तमुपागतः।[5]
तेजः पुंज इवाक्रान्त तेजस्तेजस्विनामपि ॥ ४९ ॥
सुंदरोऽल्पवयो ज्ञानी ह्यलक्षितगतिः कविः।
विरक्तवेषः कौपीनः पटांचितकटिर्गले ॥ ५० ॥
मालामालानवद्विभ्रत्तुलस्याश्चित्तदंतिनः ।
मनः कर्मवचोभिः श्रीरामकिंकर एव सः।[6] ॥ ५१ ॥
प्रेमाश्रुगद्गदश्चंचत्पुलकांकित विग्रहः ।
निजेष्टदेवं कांतारे यांतं कांतानुजान्वितं ॥ ५२ ॥

१—प्रेम०, अयो०, सर्ग ३। २—मानस पीयूष, अयो०, पृ० ४६३-४६८।
३—राम कथा, द्वितीय संस्करण, पृ० ३८९।
४—२।११०।७-१०। ५—सस्तमुपागतः; सो रामकिंकरः (एशि० सो०)।
६—श्रीरामकिंकर एव सः; पत्कंज षट्पदः (एशि० सो०)।

अर्थात्—उस अवसर पर कोई तपस्वी आए (पाठांतर पक्ष में रामकिंकर आए)। वे तपस्वी के साथ साथ तेजस्वियों में भी तेज स्वरूप हैं। वे सुंदर, अल्प अवस्थावाले, ज्ञानी, जिनकी गति लक्षित नहीं हो सकती, एतद्गुण विशिष्ट कवि, विरक्तवेष, कौपीन वस्त्र एवम् गले में तुलसी की माला शृंखला की तरह धारण किए हुए थे। मानो मन, वचन और कर्म से श्रीरामकिंकर ही थे। इस भयंकर वन में पत्नी एवम् अनुज (भाई) सहित अपने इष्टदेव को जाते हुए देखकर वे आनंदातिरेक से रोमांचित शरीरवाले प्रेमाश्रु से गद्गद हो गए। उपर्युक्त श्लोकों में 'चित्तदंतिनः' शब्द की व्याख्या अमरकोश, वाचस्पत्यम्, शब्दकोश आदि के आश्रय लेने पर भी न हो सकी। अस्तु प्रस्तुत विचारणीय विषय पर आइए। इस प्रकरण में अनेक ऐसे शब्द हैं, जिनसे इस विषय पर मीमांसा संभव है। उपर्युक्त श्लोकों में भी 'रामकिंकर' शब्द दो बार आया है। प्रथम बार रायल एशियाटिक सोसायटी कलकत्तावाली प्रति में और दूसरी बार काशिराजवाली प्रति में। रामकिंकर शब्द के प्रयोग प्रेमरामायण के सर्गान्त पुष्पिकाओं में अनेकत्र हुए हैं।

यथा—

रामकिंकरेण भाषया कृतं यदद्भुतं काव्यमस्य रामुणापि पद्धतिः।[1]

अपि च—

श्रीरामकिंकरकृते रघुवीरकाव्ये रामूर्बबंध तनुपद्यमयीं नवीनां॥[2]

अधिकांश स्थलों में 'रामकिंकर' शब्द पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

यथा—

रघुवरैकपरेण कथा कृता तुलसिकानुचरेण च रामुणा।
विवरणं कृतमस्य तु सुंदरेऽप्यजनि तत्र चतुर्थक सर्गकः॥[3]

अथापि च—

काव्यं यत्प्रबबंध बंधरुचिरं काश्यामुपास्यं सतां
भृत्यः श्रीरघुनंदनस्य तुलसीदासो लषद्भाषया।
रामुकेन कृतास्य संस्कृतमयी टीका सुपद्यान्विता
कांडे सुंदर संज्ञकेति ललिते षष्ठोऽत्र सग्गोंऽभवत्॥[4]

इस प्रकार 'रामकिंकर' शब्द संत तुलसीदासजी के लिए प्रेमरामायण में अनेकत्र प्रयुक्त हुआ है। केवल 'रामकिंकर' शब्द के ही आधार पर नहीं अपितु तापस के सभी लक्षण प्रेमरामायण के अनुसार संत तुलसीदासजी में संघटित हैं। उन लक्षणों को श्रीरामू द्विवेद कृत गुरु-वंदना के इस श्लोक से मिलाइए—

१—प्रेमरामायण, अयो०, पु०।
२—वही, सुंदर, तृतीय सर्ग की पुष्पिका।
३—वही, चतुर्थ सर्ग की पुष्पिका।
४—वही, षष्ठ सर्ग की पुष्पिका।

गौरं 'रा' पदमात्रसंश्रवणतोप्यूद्भूतरोमांकुरं
वक्षः श्रीतुलसीप्ररूढगुटिकामालं पटीशालिनं।
वारंवारमिदं पदं 'भरतु भे ठाढ़े' ति गाढं स्वरं
गायंतं नररूपिणं कमपि तं वंदेनवद्ये हितं॥[1]

प्रस्तुत वंदना में गोस्वामीजी के 'राम' शब्द के 'रा' पद मात्र के सुनते ही रोमांचित होने की बात कही गई है। प्रेमरामायण के तापस प्रसंग में 'प्रेमाश्रु गद्गदश्चंचत्पुलकांकित विग्रहः' वाला अंश भी उसी भाव का द्योतक है। 'वक्षः श्रीतुलसीप्ररूढगुटिकामालं पटीशालिनं' अर्थात् वक्षस्थल में तुलसी की माला धारण करने एवम् कौपीन पहनने की बात 'विरक्तवेषः कौपीनः पटांचितकटिर्गले, मालामालानवद्विभ्रद् तुलस्याश्चित्तदंतिनः' से मिलती है। निष्कर्ष यह है कि जिन जिन लक्षणों का समाहार तुलसीदासजी की वंदना में टीकाकार ने किया है, वे सभी लक्षण, प्रायः अनेक विशेषण मानस कथित विशिष्ट तापस में संघटित हैं। आशा है विज्ञ पाठक उपर्युक्त आधार पर इस शंका का समाधान स्वयम् कर लेंगे कि उक्त प्रकरण में 'तापस' अग्निदेव हैं या हनुमान्जी, वाल्मीकिजी हैं अथवा अगस्त्य, ब्राह्मण वेषधारी शिवजी हैं अथवा हैं स्वयम् कवि तुलसीदासजी।

आगे 'पूत पथ्य गुर आयेसु अहई'[2] की विवृति करते हुए टीकाकार ने कहा है कि—

उचितानुचितं हित्वा ये कुर्वंति गुरोर्वचः।
ते भाग्यभाजनानि स्युः परत्रेह च सर्वदा॥ —अयो०।

यहाँ टीकाकार का लक्ष्य 'आज्ञा गुरूणामविचारणीया' के भाव को स्पष्ट करना है। उसने संस्कृत सूक्तियों की जो पारंपरिक पद्धति है, उसका निर्वाह भी यथास्थान किया है। अब मानस-पाठ के प्रभावोत्पादक एक स्थल का नमूना लीजिए, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि कौन सा पाठ ग्राह्य हो सकता है। चित्रकूट की सभा समापन के पश्चात् भरतजी की इस उक्ति—

चित्रकूट मुनिथल तीरथ बन। खग मृग सरि सर निर्झर गिरि गन।[3]

में आए 'मुनिथल' पाठ की पुष्टि प्रेमरामायण में देखिए—

तीर्थानि चित्रकूटेस्मिंस्तापसानां तथाश्रमान्।
सरांसि निर्झरान्नानामृगान् पक्षिगणानपि॥—अयो०।

यहाँ द्रष्टव्य यह है कि 'तापसानां तथाश्रमान्' से तत्कालीन पाठ 'मुनिथल' ही सिद्ध होता है 'सुचिथल' नहीं। 'तपस्वी तापसः पारिकांक्षी वाचंयमो मुनिः'

१—वही, अयो०, वंदना श्लोक।
२—मानस, २।१७५।१/२।　३—वही २।३०७।३।

मुनि शब्द के पर्यायवाची तपस्वी एवम् तापस भी हैं।[1] प्रस्तुत प्रसंग में राजापुर की सुप्रसिद्ध प्रति में 'सुचिथल' पाठ होने पर भी अन्य हस्तलेखों के साक्ष्य एवम् प्रेमरामायण की पुष्टि से 'मुनिथल' पाठ काशिराज संस्करण में गृहीत है।

पूर्व निवेदन के अनुसार अब किष्किंधाकांड के एक दो प्रसंगों की संस्कृत विवृति नीचे उद्धृत की जा रही है, जिससे यह सहज ही ज्ञात हो जायगा कि टीकाकार को टीका करने में कहाँ तक सफलता मिली है। प्रसंग है—गृध्रराज जटायु की मृत्यु का समाचार सुनने पर उसके भाई संपाती ने उसे तिलांजलि दी तथा उसकी क्रिया आदि करने के बाद वानरों को अपनी पूर्व-कथा इस प्रकार सुनाई—

हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गए रबि निकट उड़ाई॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि निअरावा॥
जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा॥[2]

इन पंक्तियों का रूपांतर प्रेमरामायणकार ने यों किया—

पुराहं च जटायुश्च दृष्ट्वोद्यन्तं दिवाकरं।
वेगतस्तमनुप्राप्तौ तरुणौ कल [काल ?] गर्वितौ॥७६॥
व्योम्नि मध्यंगते सूर्ये भ्राता मे पीडितोऽभवत्।
तमरक्षमहं पक्षच्छायया घर्मराहतः॥७७॥
ततो निर्दग्धपक्षोऽहं पतितोऽस्मि शिलोच्चये।
प्रायशः सजनस्थाने पपाताकुलितो रुजा॥७८॥
तस्याद्य मरणं श्रुत्वा शोकार्तोऽहं वनौकसः।
वृद्धत्त्वान्न समर्थोऽस्मि वैरनिर्यातने रिपौ॥७९॥
सोहं वचनमात्रेण साहाय्यं जानकीपतेः।
करिष्यामि यतो जीर्णः पौरुषेण विवर्जितः॥८०॥
मयापि प्रायशो दृष्टा हृयमाणा च जानकी।
राम रामेति जल्पंती रुदती सुदती भृशं॥८१॥
सांप्रतं मे स्मृतिर्जाता रामस्यैव प्रिया भवेत्।
दृश्यते चापि लंकायां वर्तते दूरतो मया॥८२॥
वयं मांसाशिनो नित्यं गृध्रास्ते न वलीमुखाः।
निसर्गादेव वीक्षामः शतयोजनतो मितः॥८३॥—कि०, ६।५६-८३।

प्रेमरामायण के प्रस्तुत श्लोकों में 'पुराहं च जटायुश्च' से लेकर ७८वें श्लोक के 'पपाताकुलितो रुजा' तक उपर्युक्त मानस की चौपाइयों की टीका है तथा ७९वें श्लोक के 'तस्याद्य मरणं श्रुत्वा' से 'शतयोजनतो मितः' तक संपाती की आत्मानुभूति है, जिससे कथा भाग में स्पष्टता आती है।

१—अमरकोश, द्वितीय कांड, ब्रह्मवर्ग, श्लो० ४२। २—मानस, ४।२८।२-४।

रामचरितमानस ४।२९।५ से अंत तक में इस वर्णित विषय—

अस कहि उमा गीध जब गएऊ। तिन्ह के मन अति बिसमय भएऊ॥
निज निज बल सब काहूँ भाषा। पार जाइ कर संसय राखा॥[1]

की टीका प्रेमरामायण में इस प्रकार है—

सीता वृत्तांतमाकर्ण्य संपातेर्वानरा अपि।
उत्पत्य शैलतो हृष्टा ययुस्तीरे महोदधेः॥—सुं०, १।४।

इस प्रकार मानस के किष्किंधाकांड के अंतिम अंश की टीका प्रेमरामायण के सुंदरकांड में प्रतिपादित है।

टीकाकार ने 'पवन तनय बल पवन समाना' की सुविस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। मूल के साथ टीका का समन्वय कीजिए—

जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइअ किमि सब ही कर नायक॥
कह रिच्छेस सुनहु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना॥
पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥
कवन सो काजु कठिन जग माहीं। जो नहि तात होइ तुम्ह पाहीं॥[2]

इस कथा अंश के रहस्य को श्रीरामू द्विवेद ने अंतःप्रविश्य उद्घाटित किया है और श्री हनुमदुत्पत्ति की जो परंपरा है, उसका निर्देश किया है—

तमेवं दुखितं दृष्ट्वा जाम्ववानब्रबीत् पुनः।
येन सेत्स्यति नः कार्यं तं वीरं कथयाम्यहम्॥३३॥
यो विलंघ्य पयोराशिं कृतार्थः पुनरेष्यति।
स इहैवास्ति न ब्रूते वीरो मारुतनंदनः॥३४॥
यस्मिन् जवश्च तेजश्च व [?] बुद्धिमतां वरे।
विक्रमश्चैव नैतादृग्भूतो भावी न वर्तते॥३५॥[3]

समुद्र संतरण में संशयापन्न एवम् दुखी अंगद से ऋच्छराज जांबवान् ने कहा कि जिसके द्वारा यह कार्य सिद्ध होगा, उसे मैं अभी बताता हूँ। वह ऐसा है कि समुद्र को उल्लंघन करके और कृतमनोरथ हो शीघ्र ही वापस आ जायगा। इन गुणों से युक्त वायुपुत्र वीर हनुमान् कहीं दूर नहीं हैं, निकट ही हैं। वे संकोचवश बोल नहीं रहे हैं। उनमें द्रुतगति का वेग, तेज, बल, बुद्धि और पराक्रम अतिशय रूप से विद्यमान हैं। मेरा तो विश्वास है कि ये सभी गुण न किसी में हुए और न होने की आशा ही है।

हनुमदुत्पत्ति की कथा कहते हुए प्रेमरामायणकार ने आगे कहा है कि—

१—मानस, ४।२९।५-६। २—मानस, ४।३०।२-५। ३—प्रेम०, सुंदर०, १।

पूर्वमप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुंजिकस्थली ।
विधिशापादियं जाता वानरी योगरूपिणी ॥३६॥
हरिश्रेष्ठस्य दुहिता कुंजरस्यांजनेति च ।
सज्जनानंददा जाता पत्नी केसरिणः कपेः ॥३७॥
कदाचिन्मानुषीरूपं कृत्वा सा वरवर्णिनी ।
चचार पर्वताग्रेषु तामपश्यत् समीरणः ॥३८॥
मन्मथाविष्टचित्तत्त्वादालिंगत् सहसा सतीं ।
तमुवाचांजना रुष्टा व्रतलोपं करोति कः ॥३९॥
भीतस्तां मारुतः प्राह मामांशय शुचिस्मिते ।
शरीरचारी सर्वेषां सोऽहमस्मि समीरणः ॥४०॥
तेजस्त्वयि निधास्यामि मनसैव पतिव्रते ।
न ते चारित्र्यलोपः स्यात् पुत्रोऽपि स्यान्महाबलः ॥४१॥
तपनादपि तेजस्वी गरुडादपि विक्रमी ।
मत्तोऽपि यो बली लोके मनसोऽपि महाजवः ॥४२॥
इत्युक्त्वा स तथा कृत्वा गतो वातस्ततस्तु सा ।
सुतं प्रासूत शैलेन्द्रे तत्क्षणादेव योगिनी ॥४३॥[1]

श्रीहनुमान्‌जी की उत्पत्ति की कथा वाल्मीकीय रामायण, किष्किंधा कांड के ६६वें सर्ग में है। संभवतः टीकाकार ने उसी में शब्दांतर करके यहाँ उपस्थापित किया है। किंतु कहीं कहीं जो अंतर प्रतीत होता है, उसे वाल्मीकि रामायण से मिलाइए—

अप्सराप्सरसां श्रेष्ठा विख्याता पुञ्जिकस्थला ।
अञ्जनेति परिख्याता पत्नी केसरिणो हरेः ॥ ८ ॥
विख्याता त्रिषु लोकेषु रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
अभिशापादभूत्तात वानरी कामरूपिणी ॥ ९ ॥
दुहिता वानरेन्द्रस्य कुञ्जरस्य महात्मनः ।
कपित्वे चारुसर्वाङ्गी कदाचित्कामरूपिणी ॥१०॥[2]
मानुषं विग्रहं कृत्वा रूपयौवनशालिनी ।
विचित्रमाल्याभरणा महार्हक्षौमवासिनी ॥११॥
अचरत्पर्वतस्याग्रे प्रावृडम्बुदसन्निभे ।
तस्या वस्त्रं विशालाक्ष्याः पीतं रक्तदशं शुभम् ॥१२॥
स्थितायाः पर्वतस्याग्रे मारुतोऽपाहरच्छनैः ॥१३॥

वाल्मीकीय रामायण और मानस की संस्कृत टीका प्रेमरामायण के अनुसार लोक-विख्यात पुञ्जिकस्थला [ली] नाम की एक श्रेष्ठ अप्सरा थी। वाल्मीकीय रामायण में उसे

१—प्रेम०, सुंदर १ ।
२—वाल्मीकीय रामायण, किष्किंधा सर्ग ६६, श्लो० ८-१३ ।

अभिशाप द्वारा कामरूपिणी वानरी और प्रेमरामायण में विधि (ब्रह्मा) के शाप से योगरूपिणी वानरी होना कहा गया है। टीकाकार ने अन्यत्र के कथांतर का भी इसमें समावेश कर लिया है। अंजना वानरश्रेष्ठ कुंजर की दुहिता (पुत्री) तथा कपीन्द्र केसरी की पत्नी थी। एक समय कामरूपिणी (इच्छानुसार रूप बनानेवाली) या योगरूपिणी वह वानरी मनुष्य का रूप धारण करके गिरि शिखर पर घूम रही थी। वहाँ उसे वायुदेव ने देखा। कामाभिभूत होकर वायु ने सहसा उसे आलिंगन किया। (वाल्मीकीय रामायण के अनुसार वायु ने अंजना के वस्त्र उड़ा दिए हैं।) इस पर अंजना ने कहा कि मेरा व्रत कौन भंग कर रहा है ? तब वायु ने भयभीत होकर कहा कि हे शुचिस्मिते ! तुम संशय न करो, मैं प्रत्येक प्राणी के शरीर में संचरण करनेवाला 'समीरण' हूँ। तुझमें मैं अपना तेज मन से ही स्थापित करूँगा। हे पतिव्रते ! जिससे तुम्हारा विमल चारित्र्य भी लोप नहीं होगा तथा महाबलशाली पुत्र भी उत्पन्न हो जायगा। वह पुत्र असाधारण होगा, अर्थात् सूर्य से भी अधिक तेजस्वी, गरुड़ से भी अधिक पराक्रमी, मुझसे भी अधिक बली और अधिक क्या कहूँ मन से भी अधिक गतिशील होगा। इस प्रकार कहकर और वांछित कार्य करके वायुदेव चले गए। अनंतर मनुष्यरूप धारिणी अंजना ने समयानुसार शैल की उपत्यका पर पुत्र प्रसव किया। इस प्रसंग से संबंधित विषय की चर्चा वाल्मीकीय रामायण के उत्तर कांड में भी आई है—

सूर्यदत्तवरः स्वर्णः सुमेरुर्नाम पर्वतः।
यत्र राज्यं प्रशास्त्यस्य केसरी नाम वै पिता ॥१९॥
तस्य भार्या वभूवेष्टा ह्यञ्जनेति परिश्रुता।
जनयामास तस्यां वै वायुरात्मजमुत्तमम् ॥२०॥
शालिशूकनिभाभासं प्रासूतासुं तदाञ्जना ॥२१॥[1]

इन उपर्युक्त, श्लोकों में साधारण परिचय मात्र दे दिया गया है। प्रेमरामायण में वायु और अंजना का कथोपकथन है। वह यहाँ नहीं है।

इसी प्रसंग में आगे वाल्मीकीय रामायण और मानस की टीका प्रेमरामायण में इस बात पर मतैक्य नहीं है कि पुत्र को प्रसव करके अंजना कहाँ गई। प्रेम-रामायणकार ने तो कहा है—

बालार्कसदृशं सूनुं पर्यंके सांजना ततः।
स्वापयित्वा गता स्नातुं गंगायां सूर्यपर्वणि ॥[2]

अर्थात् अरुणोदय काल के सूर्य के समान तेजस्वी अपने पुत्र को अंजना पलंग पर सुलाकर स्वयम् सूर्य पर्व के अवसर पर गंगास्नान करने के लिए गई। वाल्मीकीय

१—वा० रा०, ७।३५।१९-२१।　२—प्रे०, सुं०, १।४४।

रामायण से भी इसकी पुष्टि होती है कि उस दिन सूर्यग्रहण लगनेवाला था। तथा च उक्तं--

यमेव दिवसं ह्येष ग्रहीतुं भास्करं प्लुतः।
तमेव दिवसं राहुर्जिघृक्षति दिवाकरम्॥[1]

इससे स्पष्ट है कि जिस दिन अंजनीपुत्र सूर्य को फल समझ कर अपनी बुभुक्षा शांत करने के लिए कूदे थे, उसी दिन राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिए अग्रसर हुए थे।

यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि अंजना कहाँ गई थी? प्रेमरामायण के अनुसार सूर्यग्रहण स्नान करने अथवा वाल्मीकीय रामायण के अनुसार फल लाने? क्योंकि वाल्मीकीय रामायण में कहा है--

शालिशूकनिभाभासं प्रासूतामुं तदांजना।
फलान्याहर्तुकामा वै निष्क्रान्ता गहनेचरा॥[2]

यहाँ 'फलान्याहर्तुकामा' से स्पष्ट है कि अंजना फल लाने गई थी। इस प्रकार परस्पर विरोधी कथांतर दोनो में उपलब्ध हैं। प्रेमरामायण में इस कथा का अग्रिम अंश इस प्रकार है—

समुद्यंतं विवस्वन्तं दृष्ट्वा पक्कफलाशया।
उत्प्लुतो वरपर्यंकादुद्गतोऽसौ सूर्यसन्निधौ॥४५॥
दृष्ट्वा सूर्यान्तिके राहुं पक्कजम्बूफलभ्रमात्।
गृहीतुं समवाप्तोऽयं तमस्त्रासाददुद्रुव[3]त॥४६॥
ततस्तमनुयातोऽयं सचेन्द्रशरणं गतः।
स तु नागं समारुह्य हंतुमेनमुपागतः॥४७॥
सितं वीक्ष्य गजं तुष्टः शितायामोदकभ्रमात्।
तमधावज्जघानैनं वज्रपाणिर्हनौ दृढं॥४८॥
ईषद्भग्नहनुर्भूमौ पपात पविघाततः।
निरीक्ष्य कुपितो वायुः शुशोचायुः शरीरिणाम्॥ ४९॥
त्यक्ताधिकारे पवने अकांडे ब्रह्मांडमंडपे।
संवर्तोपक्रमं वीक्ष्य ब्रह्मा मारुतमब्रवीत्॥ ५०॥
मा शोचास्मिन् सुते वात गुणास्तात मया धृताः।
अछेद्याभेद्यकायोऽयं मदस्त्रादपि मारुतिः॥ ५१॥
सुचिरं जीवितं लब्ध्वा सीतारामप्रसादतः।
सर्वत्राकुंठितगतेः शापेनापि क्षयो नहि॥ ५२॥

१—वाल्मीकीय, ७।३५।३१। २—वही, ७।३५।२१।
३—'द्रु द्रु गतौ णि श्रीति' चङ् अदुद्रुवत् सिद्धांतकौमुदी—भ्वादि।

इत्याशिष्य विधौ पाते वातोऽपि मुदितोऽभवत्।
वाल्यत्वादुद्धतः सोऽयं मुनीनामाश्रमे स्थितः॥ ५३॥[1]

अर्थात्—अपनी माता अंजना के सूर्य-ग्रहण निमित्त गंगा स्नान के लिए (अथवा फलादि लाने) जाने पर हनुमान्‌जी की नींद खुली और उन्हें भूख भी लगी। उसी समय उदीयमान सूर्य को उन्होंने देखा। सूर्य को पका फल समझकर वे पलँग से उछलकर सूर्य के पास पहुँचे। वहाँ पहुँचने पर सूर्य को ही ग्रसने के लिए आए हुए राहु से उनकी भेंट हुई। कृष्णवर्ण राहु को देखकर हनुमान्‌जी को पके जामुन का भ्रम हुआ। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार राहु का वर्ण कृष्ण[2] है और वह भी मकराकृति। अतः हनुमान्‌जी अंधकार के त्रास से आगे बढ़े। इधर राहु भी भय से इंद्र के शरण में पहुँचे। राहु की सुरक्षा के लिए इंद्र जब ऐरावत पर चढ़कर आ रहे थे, उस समय भी हाथी को देखकर उन्हें मोदक का भ्रम हुआ। जब हनुमान्‌जी हाथी की ओर लपके तत्क्षण वज्रपाणि इंद्र ने हनुमान्‌जी की ठोढ़ी पर प्रहार किया। वज्राघात से पीड़ित होकर हनुमान्‌जी गिर पड़े। यह देखकर वायु शरीरधारी प्राणियों की आयु पर अत्यंत दुःखी हुए। उन्होंने संपूर्ण ब्रह्मांड में अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया। इस अकांड तांडव से संपूर्ण ब्रह्मांड में वायु के बिना जीवों का जीवन कठिन हो गया। अंततोगत्वा इस उथल-पुथल की चिंता ब्रह्माजी को हुई। उन्होंने वायुदेव से कहा कि हे वायु! इस पुत्र के लिए तुम चिंता मत करो, इसमें सब गुण मैंने नियोजित कर दिए हैं। यह तुम्हारा पुत्र अछेद्य एवम् दुर्भेद्य होगा; यहाँ तक कि मेरे अस्त्र भी इस पर सफल नहीं होंगे। अपि च श्री सीताराम के प्रसाद से चिरकाल तक जीवन प्राप्त कर इसकी सर्वत्र अप्रतिहत गति रहेगी। इस आशीर्वाद का क्षय शाप के द्वारा भी संभव नहीं है।

इस प्रकार आशीर्वाद देकर ब्रह्मा जी ब्रह्म लोक को गए तथा अत्यंत प्रसन्नता के साथ वायु ने अपना कार्य प्रारंभ किया। वायुपुत्र का नाम भी उसी समय से 'हनुमान्' पड़ा। देखिए वाल्मीकीय रामायण में इंद्रदेव की उक्ति—

मत्करोत्सृष्टवज्रेण हनुरस्य यथा हृतः।
नाम्ना वै कपिशार्दूलो भविता हनुमानिति॥[3]

यतः मेरे हाथ से त्यक्त वज्र से इसकी 'हनु' (ठोढ़ी) टेढ़ी हो गई है, इसलिये इस कपिशार्दूल का नाम भी 'हनुमान्' होगा। उसी समय से हनुमान्‌जी चंचलावस्था में मुनियों के आश्रम में रहने लगे।

---

१ - प्रेम०, सुं०, १।४५-५३।

२—देखिए राहु का वर्ण—रक्तावङ्गारकादित्यौ श्वेतो शुक्रनिशाकरौ।
गुरुसौम्यौ पीतवर्णौ शनिराहूवसितौ शुभौ॥
—ज्योतिषसार, श्लो० ५७।

३—वा० रा०, ७।३६।११।

भारतीय भाषाशास्त्र के प्रमुख विद्वान् डा० ग्रियर्सन साहब द्वारा संपादित गोसाँई चरित में उपर्युक्त आशय का वर्णन हरिगीतिका छंद में किया गया है—

लखि प्रात लीलो भान यह लघु चरित बाल बिलास को।
रबि राहु बासव मान ढीलो गर्ब खीलो बजर को॥
हनुमंत हठीलो बाल लीलो सरन जानकि अजर को।
रनधीर बीर समीर को सुत दूत प्रिय रघुबीर को॥[1]

इसी प्रकार आगे के अंशों में प्रेमरामायणकार ने मानस-शब्दों के मूलतत्त्व को उद्घाटित किया है। मानस की इन पंक्तियों—

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई। करि माया नभ के खग गहई॥
जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥
गहइ छाह सक सो न उड़ाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥
सोइ छल हनूमान कहँ कीन्हा। तासु कपटु कपि तुरतहि चीन्हा॥[2]

को मिलाइए प्रेमरामायण से

मारुतिं यांतमुद्वीक्ष्य सिंहिका नाम राक्षसी।
नीरराशौ स्थिता छाया ग्राहिणी हर्षमागता॥
महत्सत्त्वमहो प्राप्तं तृप्ता स्यामस्य भक्षणात्।
इति संचिंत्य मनसा छायां जग्राह वक्रतः॥[3]

अर्थात्—श्रीहनुमान्जी को अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए जाते देखकर सिंहिका नाम की राक्षसी जो कि जलराशि में केवल छाया ग्रहण करके अपना कार्य साधन करती है, प्रसन्नता को प्राप्त हुई। उसने मन में सोचा कि आज सुयोग से एक विशाल जीव प्राप्त हो गया है, इसके भक्षण से तृप्त हो जाऊँगी। इस प्रकार मन में सोचकर छाया को ग्रहण कर लिया। यहाँ 'निसिचरि एक' को 'सिंहिका नाम राक्षसी' से स्पष्ट कर दिया है तथा उसके मनोभावों का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्मता से किया है।

इसी प्रकार आगें लंकिनी के रहस्य का उद्घाटन भी टीकाकार ने वाल्मीकीय रामायण के आधार पर किया है—

नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी।
जानेहि नही मरमु सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥[4]

उक्त दोनो चौपाइयों की व्याख्या में टीकाकार की पैनी दृष्टि देखिए—

१—डा० ग्रियर्सन संपादित 'गोसाँइ चरित', छंद-३-४, पृ०९। २—मानस, ५।३।१-४।
३—प्रेम०, सुं०, १।१०२-१०३। ४—मानस, ५।४।२-३।

तस्मिन् विशति लंकायां लंकिनी पुरपालिका।
कालिकेवाविरासीत्तं शंकनीया सुरैरपि॥
तं निरीक्ष्य जगादेदं कस्त्वं कार्येण केन वा।
अननुज्ञात एवात्र विशस्येवं मया कपे॥
वातजः प्राह कुतुकाद् द्रक्ष्यामि नगरीमिमां।
तदर्थमागतोऽस्मीति भद्रे यास्ये यथागतं॥
तमाह लंकिनी किं मामवज्ञाय पुरेश्वरीं।
यासि यास्यसि कीनाश भवनं नन्विमां पुरीं॥[1]

अर्थात् हनुमान्जी के लंकापुरी में प्रवेश करते ही लंका स्वरूपा, नगर की रक्षा करनेवाली एवम् देवगणों से शंकनीया लंकिनी ने उन्हें देखकर कहा—तुम कौन हो? किस कार्य से बिना मेरी आज्ञा प्राप्त किए यहाँ प्रवेश कर रहे हो? उत्तर में वायुपुत्र ने कहा—कौतुकवश मैं इस नगरी को देखना चाहता हूँ और एतदर्थ ही यहाँ आया हूँ। हे भद्रे! जैसे आया हूँ, वैसे ही चला जाऊँगा। अनंतर लंकिनी ने कहा —इस पुरी की रक्षा करनेवाली मैं हूँ। क्या! मेरा अपमान करके इस पुरी में जा रहे हो या जाओगे? यहाँ 'पुरपालिका', 'शंकनीया सुरैरपि', 'मामवज्ञाय पुरेश्वरीं' आदि प्रयुक्त शब्दों से 'जानेहि नही मरमु सठ मोरा' का भाव परिलक्षित होता है। इस प्रकरण में भी टीकाकार वाल्मीकीय रामायण से अवश्य प्रभावित हैं तथा उससे 'दृष्ट्वा पुरीमिमां भद्रे पुनर्यास्ये यथागतम्'[2] यह अंश प्रेमरामायण में ज्यों का त्यों ले लिया गया है। इससे स्पष्ट है कि टीकाकार को वाल्मीकीय रामायण से अधिक सहायता मिली है। अधिक विस्तार के भय से अब केवल एक प्रसंग का ही समन्वय दिखाकर 'पूर्णमेवाविशिष्यते' का आधार लेना ही श्रेयस्कर है। वह प्रसंग है अशोक-वाटिका में स्थित सीता जी की दयनीय स्थिति—

निज पद नयन दिएँ मन राम कमल पद लीन।
परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन॥[3]

इस दोहे की टीका करते हुए रामू द्विवेद ने प्रेमरामायण में लिखा है—

राक्षसीभिर्वृतां दीनां मलिनांवरधारिणीं।
निःश्वसन्तीं भृशं चिंतापारावारे निमज्जतीं॥
उपवासकृशां भूमौ निषण्णामश्रुलोचनां।
उरौ कफोणिमाधाय वामहस्तकृताननां॥[4]

अर्थात् अशोकवाटिका में भयंकर राक्षसियों के द्वारा घिरी दीन हीन दशा में मलिन वस्त्र धारण करनेवाली वियोग जन्य निःश्वास को छोड़ती हुई, चिंतारूपी समुद्र

१—प्रेम०, सुं०, २।२१-२४। २—वाल्मीकीय रामा०, ५।३।३७।
३—मानस, ५।८।०। ४—प्रे०, सुं०, सर्ग २, श्लोक ८०-८१।

में निमग्नोन्मग्न होती हुई तथा निरंतर उपवास करने से अति कृशकाया एवम् भूमि पर बैठी हुई, आँसू से युक्त नेत्रों वाली, अपनी जाँघ पर कुहनी और बाएँ हाथ पर मुख आश्रित किए एवंभूता-सीता को देख पवनसुत अत्यंत दुखी हुए।

जगज्जननी जानकी की तत्कालीन स्थिति का वास्तविक स्वरूप टीकाकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है। वाल्मीकीय रामायण में भी इसी आशय का वर्णन आया है—

उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः।[1]

इसे प्रेमरामायण के 'उपवासकृशां भूमौ निषण्णामश्रुलोचनां' से मिलाइए। इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि टीकाकार ने मानस के कथा भाग को संस्कृत रामायण के विशेषतः वाल्मीकीय रामायण के आधार पर उपबृंहित किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से मानस की यह प्राचीनतम टीका है और वह भी मूल ग्रंथकार के समक्ष की। यह तो निश्चित है कि श्रीरामू द्विवेद को टीका करने के समय जहाँ कहीं भी कठिनाई आई होगी उसका समाधान उनके गुरु संत तुलसीदासजी ने कर दिया होगा। यह सौभाग्य इसी संस्कृतमयी टीका को प्राप्त है कि यह मूल लेखक की जीवनकालीन है। उसमें उन्होंने अंतःस्वर से अपने गुरु संत तुलसीदासजी की वंदना करके 'भाषा रामायणस्यैषा टीका नीका मया कृता' यह उद्घोषित किया है। प्रेमरामायण के अयोध्याकांड की १९वें सर्ग की पुष्पिका से भी उपर्युक्त आशय की पुष्टि होती है। उसे श्रीरामूजी के चमत्कारिक शब्दों में ही पढ़िए—

श्रीरामचंद्र चरितं ललितं सुभाषा बद्धं चकार तुलसी कुलशीलसीमा।
वंशीधराग्रजकृतौ च तदीयवृत्तौ तत्रोनविंशतिरसौ विरराम सर्गः॥

अर्थात् कुल-शील-सीमा संत तुलसीदासजी ने श्रीरामचंद्रजी के चरित्र को सुभाषा (हिंदी) में ललित रूप से निर्मित किया है, उसी रामचरितमानस की वंशीधराग्रज—मैंने (रामू) जो विवृति की है, उसका यह १९वाँ सर्ग पूर्ण हुआ। इतना ही नहीं टीकाकार ने प्रेमरामायण पंचम सर्ग की पुष्पिका में कहा है कि गुणशीलनिधि तुलसी ने इस अतुलनीय काव्य की रचना की।

जैसे—

गुणशीलनिधिस्तुलसी विदधेऽतुलकाव्यमिदं कुलकादियुतं।
विवृतिश्च मुकुंदसुतेन कृतात्र गतो वर पंचम सर्ग विधिः॥

इसका आशय यह है कि गुण और शील के निधि श्री तुलसी ने कुलकादि (पादाकुलक या पायकुलक) छंदों से युक्त अतः अतुलनीय इस महाकाव्य की रचना की। उसकी विवृति जो मुकुंदसुत रामू द्विवेद ने की है तदन्तर्गत पंचम सर्ग पूर्ण हुआ।[2]

१—वाल्मीकीय रामा०, ५।१५।१९।

२—पादाकुलक—यदतीलकृतविविधलक्ष्मयुतैर्मात्रा समादि पादैः कलितम्। अनिय्रत. वृत्त परिमाण सहितम् प्रथितं जन (तस्तु ?) पादाकुलकम् वृ० र०, उक्ते मात्रा वृत्त भेदे—वाचस्पत्यं, पंचम भाग पृ० ४३०४।

मानस में विशेषतः सुंदरकांड में अधिकांश पायकुलक छंद हैं, जो कि चौपाई का ही एक विशिष्ट भेद है। इसके सहस्राधिक भेदोपभेद हैं, जिनके उदाहरण मानस में विद्यमान हैं। संभवतः इसका पूर्ण निदर्शन कविवर ब्रजचंद के द्वारा हुआ है। इनका उल्लेख मानस-पीयूषकार ने सुंदरकांड में किया है।

प्रेमरामायण के पंचम सर्ग की पुष्पिका में 'कुलकादियुतं' शब्द आया है। वह छंद-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र का संकेत है। प्रथमतः छंद-शास्त्र के अनुसार ही विचार करना अभीष्ट है। कुलक शब्द, जिसके अंत में हों ऐसे दो छंद उपलब्ध हैं 'पादाकुलक' और 'पायकुलक'। 'पादाकुलक' चौपाई का भेद है। इस विषय में श्रीरघुनाथदास कृत मानस दीपिका टीका की भूमिका में लिखा है कि 'अथ रूप चौपाई लछन रूप चौपाई सोरह १६ कला की यात्रा—

जब तें राम ब्याहि घर आये। नित नव मंगल मोद बधाये॥

ताही मैं विद्युन्माना [ला] चंपकमाला पादांकुलिक [पादाकुलक] भ्रमर विलसतादि सब होतु हैं।'[1]

इससे यह स्पष्ट है कि पादाकुलक एक चौपाई छंद का भेद है। 'पादाकुलक—संज्ञा पुं० [सं०] वह छंद [है], जिसके प्रत्येक पद में चार चौकल हों; जैसे—

चौकल चार जहाँ पर आनो। छंद सुपादाकुलक बखानो॥—छंद प्रभाकर।

चौपाई और पादाकुलक में अंतर यह है कि प्रथम में प्रत्येक चरण में चार चार चौकल रहना आवश्यक नहीं है, किंतु दूसरे में है। इस प्रकार जिस चौपाई के चारों चरणों में चार चार चौकल हों उसे पादाकुलक कह सकते हैं; जैसे—

।।।।।। ।। ऽ।। ऽ।। ।।। ।।। ।। ऽ। ।ऽ।।

गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन-अमिअ दृग दोष बिभंजन॥

जहाँ ऐसा न हो वहाँ शुद्ध चौपाई होती है; जैसे—

सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता'[2]

प्राकृत में छंद-शास्त्र का प्रामाणिक ग्रंथ 'प्राकृत पैंगलम्' है, उसमें भी पादाकुलक छंद का निर्देश आया है, जिससे पूर्वोक्त मत की पुष्टि होती है—

'लहु गुरु ऐक्क णिअम णहि जेहा, पअ पअ लेक्खउ उत्तमरेहा।
सुकइ फणिंदह कंठह वलअं सोलहमत्तं पाआकुलअं॥ १२९॥

अर्थात्—जिस छंद में लघु गुरु का कोई नियम नहीं होता, प्रत्येक चरण में उत्तम रेखा (मात्रा) लिखो वह सुकविफणींद्र (पिंगल) के कंठ का हार सोलह मात्रा का पादाकुलक छंद है। उदाहरण—

१—नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित (सं. १९३०), मानसदीपिका टीका भूमिका, पृ. ४८।

२—ना० प्र० स० का, संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर, पृ० ६०९।

सेर एक जइ पावउँ घित्ता मंडा बीस पकावउँ णित्ता।
टंकु ऐक्क जउ सेंधव पाआ जो हउ रंक सोइ हउ राआ॥"[1]

छंदशास्त्र के एक अन्य ग्रंथ में आया है कि 'पादाकुलक यह १६ मात्रिक संस्कारी जाति का प्रसिद्ध छंद है। इसमें १६ मात्राओं का पाद होता है, परंतु मात्राओं का आयोजन ऐसे ढंग से किया जाता है कि चार-चार मात्राओं के चार चतुष्कल बन जायँ। जैसे—

।।। ।।। ।।ऽ।। ।।ऽ ऽ।।ऽ ।।। ।। ।।ऽ

सुमति कुमति सबके उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥"[2]

इन उपर्युक्त प्रामाणिक उद्धरणों से पादाकुलक छंद की स्पष्टता हो गई है, अब पायकुलक का लक्षण देखिए—

एकै तुक सोरह कलनि, पायकुलक गुर अंत।[3]

यद्यपि छंदशास्त्र के आचार्य भिखारीदासजी ने भी पायकुलक में १६ मात्राओं का ही पद रखा है, किंतु विशेषता यह है कि अंतिम वर्ण को इन्होंने दीर्घ रखने से स्वीकार किया है—उदाहरण से मिलाइए—

ग ग। ऽऽ ऽ।।। ।ऽऽ ।।ऽ ऽ ।।ऽ। ।ऽऽ

दृग आगें सोवतहु निहारौं। हिय तें क्यों हरिरूप निकारौं।
हौं निज तन सभ रतन बिचारौं। केहि उपाय कुलकानि सँभारौं॥

प्राकृत पैंगलम् और भिखारीदास-ग्रंथावली के उदाहरणों के अनुसार तो अंत में गुरु ही निर्दिष्ट हैं, किंतु प्राकृत पैंगलम् में अंत गुरु होने की चर्चा नहीं है। इन दोनो छंदों में सूक्ष्म दृष्टि से भेद हो सकता है, वस्तुतः ये एक ही स्वरूप के हैं। अस्तु। प्रेमरामायणकार ने मानस के बहुल छंदों का निर्देश सर्वप्रथम किया है। अब काव्य शास्त्रीय दृष्टि से भी 'कुलकादियुतं' इस शब्द पर स्वल्प विचार कर लेना आवश्यक है, जिससे अनुसंधान का मार्ग प्रशस्त हो सके।

कुलक शब्द का विश्लेषण है—'कुल–क कौ लीयते–ली–उ वा त तः संज्ञायां कन्, 'परस्पर संबद्ध श्लोक पञ्चके च' मेदिनी०।"[4]

छन्दोवद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सांदानितकं त्रिभिरिष्यते॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।"[5]

१—डा० भोलाशंकर व्यास संपादित 'प्राकृत पैंगलम्', प्रथम खंड, पृ० ११६।
२—श्री रघुनंदन शास्त्री एम. ए. लिखित 'छन्द प्रकाश', पृ० ६४।
३—आचार्य पं० श्रीविश्वनाथप्रसादजी मिश्र संपादित 'भिखारीदास ग्रंथावली', (छंदार्णव), प्रथम खंड, पृ० २२७। ४—वाचस्पत्यम्, तृतीय भाग, पृ० २२२८।
५—डा० सत्यव्रतसिंह एम० ए० पी. एच० डी० संपादित 'साहित्यदर्पण' (आचार्य विश्वनाथ) षष्ठ परिच्छेद, श्लो० सं० ३१४, पृ० ५४७।

प्राचीन काव्य शास्त्र के अनुसार किसी एक प्रस्तुत विषय को दो पद्यों में यदि का र्गन किया जाता है, तो उसे युग्मक कहते हैं, तीन पद्यों में सांदानितक एवम् चार मा द्यों में वर्णित विषय को कलापक कहते हैं। ऐसे ही पाँच पद्यों में वर्णित विषय की कुलक संज्ञा है, यहाँ पर टीकाकार रामू द्विवेद का इस ओर भी संकेत संभव है। यह विषय समय सापेक्ष है, अतः इस पर फिर कभी विचार किया जायगा। यहाँ चर्चा इसलिए कर दी गई है कि अनुसंधायकों की दृष्टि इस विषय पर जाय।

अब मानस के संस्कृत अनुवाद विषय पर आइए। श्रीरामू द्विवेद के अनंतर अब तक के अनुसंधान के आधार पर महामहोपाध्याय पं० सुधाकरजी द्विवेदी द्वारा संस्कृत में प्रणीत दूसरे अनुवाद की चर्चा है। इन्होंने केवल बालकांड की ही टीका प्रस्तुत की। संवत् १९६१ से १९६६ तक के अंतराल में रुकावट के साथ एक 'मानस-पत्रिका' महामहोपाध्याय द्विवेदीजी और साहित्याचार्य पं० सूर्यप्रसादजी के युग्म संपादकत्व में निकलती थी। उपर्युक्त अनुवाद बालकांड के ६० दोहों तक इसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ। यह टीका भी विद्वत्तापूर्ण होगी इसमें संदेह हीं, योंकि महामहोपाध्यायजी विश्वविश्रुत विद्वान् थे। इस टीका का भी उपयो कुलक ना गाहिए। एक अनुवाद या टीका कहिए अथवा मानस का स्रोतानुसंधान कार्य संवत् १९५५ में श्रीगंगाबक्ससिंह तालुकेदार, टेकारी के लघुभ्राता श्रीमान् बाबू रणबहादुरसिंह ने पं० दामोदर शर्मा, पं० सहगौर त्रिपाठी एवम् पं० मातृदत्त द्वारा संपन्न कराया। उक्त कार्य मेरी जानकारी में केवल अयोध्या, अरण्य, किष्किधा और सुंदर कांड का ही हो सका, जो सं० १९८२ में गंगाधर प्रेस-रायबरेली से मुद्रित हुआ। अब एक शोध विद्वान् से ज्ञात हुआ है कि उक्त कार्य पूरे मानस पर हुआ है। इस संबंध में विशेष जानकारी के लिए लेखक के द्वारा लिखित लेख देखें।[1] मानस के इन संस्कृत टीकाओं एवम् अनुवादों के अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय कार्य संस्कृत में हुआ, ऐसा नहीं जान पड़ता। अतः यह कहना सर्वथा भ्रामक एवम् निराधार है कि संस्कृत के पंडित मानस का अनुवाद करके स्वयम् स्वयंभू बन बैठे। यदि इन वर्णित टीकाओं के अतिरिक्त और कोई संस्कृत की टीका अथवा अनुवाद हो तो उसे स्पष्ट करना चाहिए, जिससे शोध जगत् में भ्रांति न रहे।

मानस की प्राचीन टीकाओं के एक सुप्रसिद्ध संग्रह में कुछ ऐसी पंक्तियाँ मिलीं, जिससे उपर्युक्त आशय व्यक्त करना पड़ा। वस्तुतः सारा हिंदी जगत् इस प्रेमरामायण की टीका के द्वारा संस्कृत जगत् का ऋणी है। किंतु खेद है कि प्राचीन टीकाकारों में अब तक इसका नाम निर्देश तक नहीं किया गया था। प्रेमरामायण की सभी प्रतियों का समाकलन रके व्यवस्थित कार्य यदि किया जाय तो पाठ संबंधी जितने विवाद उपस्थित हैं वे स्वयमेव त हो जायँगे। इत्यलं पल्लवितेन, 'आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्'।

१—रामचरितमानस का मूलस्रोत, 'आज' दैनिक, १३ जनवरी सन् १९६२, पृ० ४ तथा गीता धर्म पत्रिका, नवंबर सन् १९५९, पृ० २६-२९।

अयोध्या
श्री तुलसीराम दास खोजी सेवा ट्रस्ट